जैन साधना और ध्यान

❑ प्रोफेसर डॉ. छगनलाल शास्त्री एम.ए (त्रय) पी.एच.डी.
काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि, प्राच्यविद्याचार्य

जैन साधना और ध्यान का हृदयस्पर्शी एवं सटीक विश्लेषण किया है- डॉ. श्री छगनलाल जी शास्त्री ने। शास्त्री जी कई दशकों से जैन योग पर शोध-खोज कर रहे हैं, किंतु वे व्यथित हैं कि साधना एवं योग की पद्धतियाँ आज मात्र अर्थोपार्जन के साधन बन कर रह गई हैं। आइए – जैन जगत् के इस उद्‌भट विद्वान् की लेखनी से पढ़िए जैन साधना एवं ध्यान का मनोहारी वर्णन !

- सम्पादक

भगवान् महावीर की साधना : ध्यान

अन्तः परिष्कार या आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए जैन साधना में ध्यान का बहुत बड़ा महत्व रहा है। अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के अन्यान्य विशेषणों के साथ एक विशेषण 'ध्यानयोगी' भी है। आचारांग सूत्र के नवम् अध्ययन में जहाँ भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है, वहीं उनकी ध्यानात्मक साधना का भी उल्लेख है। विविध प्रकार से नितान्त असंग भाव से उनके ध्यान करते रहने के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। एक स्थान पर लिखा है –

"भगवान् प्रहर-प्रहर तक अपनी आँखें बिल्कुल न टिमटिमाते हुए तिर्यक् भित्ति/तिरछी भींत पर केंद्रित कर ध्यान करते थे। दीर्घकाल तक नेत्रों के निर्निमेष रहने से उनकी पुतलियाँ ऊपर को चढ़ जातीं। उन्हें देखकर बच्चे भयभीत हो जाते, 'हन्त-हन्त' कहकर चिल्लाने लगते और दूसरे बच्चों को बुला लेते।"[1]

इस संदर्भ से प्रकट होता है कि भगवान् महावीर का यह ध्यान किसी प्रकार त्राटक-पद्धति से जुड़ा था।

दूसरा प्रसंग है –

"भगवान् अपने विहार क्रम के बीच यदि गृहस्थ-संकुल स्थान में होते तो भी अपना मन किसी में न लगाते हुए ध्यान करते। किसी के पूछने पर भी अभिभाषण नहीं करते। कोई उन्हें बाध्य करता तो वे चुपचाप दूसरे स्थान पर चले जाते अपने ध्यान का अतिक्रमण नहीं करते।"[2]

आगे लिखा है –

भगवान् अपने साधना काल के साढ़े बारह वर्षों में जिन-जिन वास स्थानों में रहे, बड़े प्रसन्न मन रहते थे। रात दिन यत्नशील, स्थिर, अप्रमत्त, एकाग्र, समाहित तथा शांत रहते हुए ध्यान में संलग्न रहते थे।[3]

एक दूसरे स्थान पर उल्लेख है-

"जब भगवान् उपवन के अंतर – आवास में कभी

---

१ अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ज अंत सो झाइ।
अह चक्खु – भीया सहिया तं हंता हंता बहवे कंदिंसु।।
-आचारांग सूत्र ९.१.५

२. जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से ज्झाति।
पुट्ठो वि णाभिभासिंसु, गच्छति णाइवत्तई अंजू।।
– आचारांग सूत्र ९.१.७

३. एतेहिं मुणी सयणेहिं, समणे आसी पत्तेरस वासे।
राइंदिवं पि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाति।।
– आचारांग सूत्र ९.२.४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानस्थ हुए, तब वहाँ प्रतिदिन आनेवाले व्यक्तियों ने उनसे पूछा – यहाँ भीतर कौन है? भगवान् ने उत्तर दिया, "मैं भिक्षु हूँ।" उनके कहने पर भगवान् वहाँ से चले गये। श्रमण का यही उत्तम धर्म है। फिर मौन होकर ध्यान में लीन हो गये।[१]

सूत्रकृतांग में भगवान् महावीर अनुत्तर सर्वश्रेष्ठ ध्यान के आराधक कहे गये हैं तथा उनका ध्यान हंस, फेन, शंख और इंदु के समान परम शुक्ल अत्यंत उज्ज्वल बताया गया है।[२]

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र का एक प्रसंग है। भगवान् महावीर अपने अंतेवासी गौतम से कहते हैं –

"मैं छद्मस्थ-अवस्था में था। तब ग्यारह वर्ष का साधु-पर्याय पालता हुआ, निरंतर दो-दो दिन के उपवास करता हुआ, तप एवं संयम द्वारा आत्मा को भावित-स्वभावाप्लुत करता हुआ, ग्रामानुग्राम विहरण करता हुआ सुंसुमार नगर पहुंचा। वहाँ अशोक वनखंड नामक उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी पर स्थित शिलापट्ट के पास आया, वहाँ स्थित हुआ और तीन दिन का उपवास स्वीकार किया। दोनों पैर संहृत किये – सिकोडे, आसनस्थ हुआ, भुजाओं को लंबा किया – फैलाया। एक पुद्गल पर दृष्टि स्थापित की, नेत्रों को अनिमेष रखा, देह को थोड़ा झुकाया, अंगों को, इंद्रियों को यथावत् आत्मकेन्द्रित रखा। एक रात्रि की महाप्रतिमा स्वीकार की। यह क्रम आगे विहार-चर्या में चालू रहा।[३]"

भगवान् के तपश्चरण का यह प्रसंग उनके ध्यान, मुद्रा, आसन-अवस्थिति आदि पर इंगित करता है। इसके आधार पर स्पष्ट रूप में तो कुछ नहीं कहा जा सकता, किंतु इतना अवश्य अनुमेय है कि उनके ध्यान का अपना कोई विशेष क्रम अवश्य रहा, जिसका विशद, वर्णन हमें जैन आगमों में प्राप्त नहीं होता।

वास्तव में जैन परंपरा की जैसी स्थिति आज है, भगवान् महावीर के समय में सर्वथा वैसी नहीं थी। आज लंबे उपवास, अनशन आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना में मानसिक एकाग्रता चैतसिक वृत्तियों का नियंत्रण, विशुद्धीकरण, ध्यान, समाधि आदि गौण हो गये हैं। परिणामतः ध्यान संबंधी अनेक तथ्यों तथा विधाओं का लोप हो गया है।

स्थानांगसूत्र स्थान ४, उद्देशक १, समवायांग सूत्र समवाय ४ तथा आवश्यक निर्युक्ति, कार्योत्सर्ग अध्ययन आदि में इनके व्याख्यापरक वाङ्मय में तथा और भी अनेक आगम ग्रंथों और उनके टीका-साहित्य में एतद्विषयक सामग्री बिखरी पड़ी हैं।

---

१. अयमंतरंसि को एत्थ, अहमंसि त्ति भिक्खू आहट्टु।
अयमुत्तमे से धम्मे, तुसिणीए स कसाइए झाति।।
– आचारांग सूत्र, ६.२.१२

२. अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता अणुत्तरं झाणवरं झियाइ।
सुसुक्क सुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदु एगंत वदात सुक्कं।।
– सूत्रकृतांग सूत्र १-६-१६

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! छउमत्थ कालियाए, एक्कारसवास चरियाए, छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दुइज्जमाणे जेणेव सुंसुमार पुरे नगरे जेणेव असोयसंडे उज्जाणे, जेणेव असोयवरपायवे, जेणेव पुढवीसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि। उवागच्छित्ता असोगवर पायवस्स हेट्ठा पुढवी सिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हामि, दो वि पाए साहट्टु वग्घारिय पाणी, एग पोग्गल निविट्ठदिट्ठी अणिमिस णयणे, ईसिपब्भार गहणंकाएणं, अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं एग राइयं महापडिमं उवसंपज्जेत्ता णं विहरामि।
– व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र ३.२.१०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थ सूत्र में ध्यान की व्याख्या

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में ध्यान की जो परिभाषा की है, उसके अनुसार **"अंतःकरण की वृत्ति का किसी एक विषय में निरोध-स्थापन-एकाग्रता ध्यान है।[1]"**

उन्होंने चैतसिक वृत्ति की एकाग्रता के साथ अपनी परिभाषा में एक बात और कही है, जो बड़ी महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि ध्यान के साधने के लिए व्यक्ति का दैहिक संहनन उत्तम कोटि का होना चाहिए।

"संहनन" जैन शास्त्रों का एक पारिभाषिक शब्द है, जो शरीर के संघटन-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ध्यान, जिसका संबंध विशेषतः मन के साथ है, दैहिक दृढ़ता से कैसे जुड़े? कुछ बारीकी में जाएं तो हमें यह प्रतीत होगा कि मन की स्वस्थता के लिए देह की स्वस्थता और शक्तिमत्ता का भी महत्व है। इसका अर्थ यह नहीं कि सबल-प्रबल देह का धनी स्वभावतः उच्च मनोबल का भी धनी होगा। पर, इतना अवश्य है कि जिसका दैहिक स्वास्थ्य समृद्ध हो, वह यदि ध्यान साधना में अपने को लगाए, तो एक दुर्बल, अस्वस्थ काय मनुष्य की अपेक्षा शीघ्र तथा अधिक सफल होगा। अस्वस्थ और अनुत्तम संहननमय शरीर के व्यक्ति में मन की स्थिरता इसलिए कम हो जाती है कि वह देहगत अभाव, अल्पशक्तिमत्ता आदि के कारण समय-समय पर अस्थिर या विचलित होता रहता है।

हठयोग में देह-शुद्धि पर जो विशेष जोर दिया गया है उसका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि दूषित, मलग्रस्त और अस्वस्थ देह **राजयोग** जो ध्यान चिन्तनमूलक है, के योग्य नहीं होता। उत्तम संहनन की बात से यह तुलनीय है।

यहाँ एकाग्र चिंतन के साथ उत्तम संहनन की जो बात कही गई है, उसका आशय ध्यान के अनवरुद्ध सधने से है। ध्यान की चिरस्थिरता, अविचलता और अभग्नता की दृष्टि से ही आचार्य उमास्वाति ने यह कहा है अन्यथा यत् किञ्चित् एकाग्र चिंतन तो हर किसी के सधता ही है। पारिभाषिक रूप में जिसे उत्तम संहनन कहा गया है, वह आज किसी को प्राप्त नहीं हैं। वैसी स्थिति में आज ध्यान का अधिकारी कोई हो ही नहीं पाता। फिर आचार्य हरिभद्र, हेमचंद्राचार्य, शुभचंद्र आदि महामनीषी, जिन्होंने ध्यान पर काफी लिखा है, वैसा कैसे करते? सामान्यतः एकाग्रचिंतन मूलक साधना या ध्यान का अधिकारी अपनी शक्ति, मनोबल, संकल्पनिष्ठा के अनुसार प्रत्येक योगाभिलाषी योगानुरागी पुरुष है।

ध्यान के भेद

जैन परंपरा ध्यान के आर्त्त, रौद्र, धर्म तथा शुक्ल ये चार भेद स्वीकार करती है।[2] उपादेयता की दृष्टि से इन चारों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक-आर्त्त, रौद्र तथा दूसरा – धर्म-शुक्ल ध्यान। जीवन शुद्धि, अंतःपरिष्कार या मोक्ष की दृष्टि से धर्म एवं शुक्ल ध्यान उपादेय है।[3]

आर्त्त तथा रौद्र अशुभ बंध के हेतु हैं। इसलिए वे अनुपादेय एवं अश्रेयष्कर हैं। पर, ध्यान की कोटि में तो आते ही हैं। क्योंकि मन की एकाग्रता, चाहे किसी भी कारण से हो, वहाँ है।

आर्त्त और रौद्रध्यान जब अनुपादेय एवं अश्रेयस्कर हैं, तो उनके संबंध में विशेष जानने की क्या आवश्यकता है? यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, किंतु यहाँ विशेषरूप से समझने की बात यह है कि साधारणतः मनुष्य की एक

१. उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम्-तत्त्वार्थ सूत्र ९.२७

२. आर्त-रौद्र-धर्म शुक्लानि। – तत्त्वार्थसूत्र ९-२९

३. परे मोक्ष हेतू! – तत्त्वार्थसूत्र ९-३०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दुर्वलता है। अशुभ या विकार की ओर उसका मन झट चला जाता है, सत् या शुभ की दिशा में, आगे बढ़ने में तन्मूलक चिंतन में, धर्मध्यान में प्रवृत्त होने हेतु बड़ा अध्यवसाय और उद्यम-प्रयत्न करना होता है। अशुभमूलक आर्त्त-रौद्र ध्यान से वह बचे इसलिए यह आवश्यक है कि वह जाने तो सही – वे क्या हैं? सिद्धांततः जगत् में सभी पदार्थ, सभी बातें ज्ञेय-ज्ञातव्य या जानने योग्य हैं। ज्ञात पदार्थों या विषयों में जो हेय हैं उनका परित्याग किया जाए तथा जो उपादेय हैं, उन्हें ग्रहण किया जाए। यही कारण है कि शास्त्रों में आर्त्त और रौद्र ध्यान का यथाप्रसंग विवेचन हुआ है।

आर्त्तध्यान

तत्त्वार्थ सूत्र में आर्त्त ध्यान चार कारणों से उत्पन्न होने का उल्लेख है। उस आधार पर उसके चार भेद माने गये हैं। तदनुसार अमनोज्ञ - अप्रिय वस्तुओं के प्राप्त होने पर उनके विप्रयोग या वियोग के लिये सतत चिन्ता करना पहला आर्त्तध्यान है।[१]

वेदना या दुःख के आने पर उसे दूर करने की निरन्तर चिंता करना दूसरा आर्त्तध्यान है।[२]

मनोज्ञ/प्रिय वस्तुओं का वियोग हो जाने पर उनकी प्राप्ति के लिए अनवरत चिंतामग्न रहना तृतीय आर्त्तध्यान है।[३]

अप्राप्त अभीप्सित वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्परत रहना तदनुरूप चिंतन करना चौथा आर्त्तध्यान है।[४]

आर्ति का अर्थ पीड़ा, शोक या दुःख है। आर्त्त का आशय है- आर्तियुक्त अर्थात् पीड़ित, दुःखित, शोकान्वित।

जब व्यक्ति बहुत दुःखित होता है तो उसका चिंतन और-और सभी बातों से हटकर मात्र उस दुःख पर केन्द्रित हो जाता है। आचार्य उमास्वाति ने जैसा प्रतिपादन किया है उसके अनुसार जब किसी अनिष्ट वस्तु का संयोग हो, इष्ट पदार्थ का वियोग हो, दैहिक या मानसिक पीड़ा हो, भौगिक लालसा की उत्कटता हो, तब मन की, मानसिक चिन्तन की ऐसी स्थिति बनती है। दूसरे शब्दों में बहिरात्म-भाव की जितनी उग्रता-तीव्रता होगी, आर्त-चिंतन उतना ही प्रचंड होगा। वह आत्मा के विकास, सम्मार्जन या शान्ति की दृष्टि में सर्वथा अहितकर, अग्राह्य या त्याज्य है।

रौद्रध्यान

जिस प्रकार उद्भावक कारणों के आधार पर आर्त्तध्यान का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार रौद्रध्यान का भी तत्त्वार्थसूत्र में वर्णन है। हिंसा, असत्य, चौर्य, विषय-संरक्षण के लिए जो सतत चिंतामग्नता होती है, वह रौद्रध्यान है।[५] इसे अधिक स्पष्ट यों समझा जा सकता है, जब कोई व्यक्ति हिंसा करने हेतु उतारु हो, उसका अंतर्मानस अत्यंत क्रूर और कठोर बन जाता है और एकमात्र उसी हिंसामूलक ध्यान में लगा रहता है।

असत्य के संबंध में भी ऐसा ही है। जब व्यक्ति असत्य बोलने, उसे सत्य सिद्ध करने में तत्पर होता है तो उसके मन से सत्योन्मुख सहज सौम्य भाव विलुप्त हो जाता है। अस्वाभाविक एवं मिथ्या भाव रुद्रता या क्रूरता में परिणत हो जाता है। ऐसी ही स्थिति चोरी में बनती है।

१. आर्तममनोज्ञानां संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति समन्वाहारः – तत्त्वार्थसूत्र ६.३१
२. वेदनायाश्च – तत्त्वार्थसूत्र ६.३२
३. विपरीतं मनोज्ञानाम् – तत्त्वार्थसूत्र ६.३३
४. निदानं च – तत्त्वार्थसूत्र ६.३८
५. हिंसाऽनृतस्तेयविषय संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत देशविरतयोः – तत्त्वार्थ सूत्र ६.३६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चोर को भी अपने लक्ष्य में जो वस्तुतः दुर्लक्ष्य है, तन्मय भाव से जुट जाना होता है।

ये कार्य नितान्त अशुभ है। इसलिए भावात्मक वृत्ति भीषण और क्रूर हो जाती है। विषय, भोग या भोग्य पदार्थों के संरक्षण के लिए भी व्यक्ति कठोर, क्रूर तथा उन्मत्त बन जाता है। उसका चिंतन अत्यंत रौद्रभावापन्न अथवा दुर्धर्ष क्रोधावेश लिए रहता है।

रौद्र शब्द रुद्र से बना है। रुद्र के मूल में रुद् धातु है – जिसका अर्थ रोना है – जो अपनी भीषणता, क्रूरता अथवा भयावहता द्वारा रूदन-द्रवित कर दे। ऊपर जिन स्थितियों का विवेचन हुआ, वे ऐसी ही दुःसह होती हैं।

इन पाप बंधक दो ध्यानों के बाद धर्मध्यान और शुक्लध्यान का निरूपण आता है। ये दोनों ध्यान आत्मलक्षी हैं। शुक्लध्यान विशिष्ट ज्ञानी साधकों के सधता है। वह अन्तःस्थैर्य या आत्मस्थिरता की क्रमशः पराकाष्ठा की दशा है। धर्मध्यान उससे पहले की स्थिति है। वह शुभमूलक है। कुंदकुंद आदि महान् आचार्यों ने अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन शब्दों का विशेष रूप से व्यवहार किया है। अशुभ पापमूलक, शुभ पुण्यमूलक तथा शुद्ध पाप-पुण्य से अतीत, निरावरण शुद्ध आत्ममूलक है। आर्त्त-रौद्र ध्यान अशुभात्मक, धर्मध्यान शुभात्मक तथा शुक्ल ध्यान शुद्धात्मक है।

धर्मध्यान

तत्त्वार्थ सूत्र में धर्मध्यान के आज्ञा विचय, अपायविचय, विपाक विचय तथा संस्थान विचय, ये चार भेद किये गये हैं।[1]

आज्ञाविचय

विचय का अर्थ गहन चिंतन, परीक्षण या मनन है। आज्ञाविचय ध्यान में सर्वज्ञ-वाणी ध्येय-ध्यान के केंद्र रूप में ली जाती है। उनकी वाणी-देशना सर्वथा सत्य है, पूर्वापर विरोध विवर्जित है, सूक्ष्म है। वह तर्क और युक्ति द्वारा अबाधित है। वह आदेय है। सभी द्वारा आज्ञा रूप में ग्रहण किये जाने योग्य है, हितप्रद है। क्योंकि सर्वज्ञ अतथ्यभाषी नहीं होते।

यों चित्त को सर्वज्ञ की वाणी या आज्ञा पर टिकाते हुए, एकाग्र करते हुए द्रव्य, गुण और पर्याय आदि की दृष्टि से तन्मयता और स्थिरतापूर्वक ध्यान करना आज्ञा विचय कहा जाता है।[2]

अपायविचय

उपाय का विलोम अपाय है। उपाय प्राप्ति या लाभ का सूचक है। अपाय हानि विकार या दुर्गति का द्योतक है। कषाय – राग-द्वेष, क्रोध, मान और माया आदि से उत्पन्न होनेवाले अपाय-कष्ट या दुर्गति को सम्मुख रखकर जहाँ चिंतन को एकाग्र किया जाता है, वह अपाय विचय ध्यान कहा जाता है। अपाय चिंतन उस ओर से निवृत्त आत्म भाव में संप्रवृत्त होने की दिशा प्रदान करता है। इस ध्यान में संलग्न योगी-साधक ऐहिक – इस लोक विषयक तथा आमुष्मिक – परलोक विषयक अपायों का परिहार करने में समुद्यत हो जाता है। पाप-कर्मों से निवृत्त हुए

१. आज्ञाऽपायविपाक संस्थान विचयाय धर्ममप्रमत्त संयतस्य।
— तत्त्वार्थसूत्र ६.३६

२. आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य, सर्वज्ञानामबाधिताम्।
तत्वतस्चिन्तयेदर्थांस्तदाज्ञा ध्यान मुच्यते।।
सर्वज्ञवचनं सूक्ष्मं, हन्यते यन्न हेतुभिः।
तदाज्ञा रूप मादेयं, न मृषा भाषिणो जिनाः।।
— योगशास्त्र १०. ८-९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना अपायों से कोई बच नहीं सकता।[१]

विपाक-विचय

अनादिकाल से सांसारिक आत्माओं के साथ कर्म संलग्न है। यह संलग्नता तब तक चलती रहेगी, जब तक संयम और तप द्वारा व्यक्ति उनका संपूर्णतः क्षय नहीं कर डालेगा। जैन दर्शन में कर्मवाद का जितना विशद, व्यापक और विस्तृत विवेचन है, वैसा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं होता।

प्रतिक्षण कर्मों की फलात्मक परिणति होती रहती है, उसे कर्म-विपाक कहा जाता है। ध्यानाभ्यासी कर्मविपाक के ध्येय के रूप में परिगृहीत कर उस पर अपना चिंतन स्थिर, एकाग्र करता है। उसे विपाक विचय ध्यान कहा जाता है।[२]

इस ध्यान द्वारा साधक में कर्मों से पृथक् होते उन्हें निर्जीर्ण करने तथा आत्मभाव से संपृक्त होने की संस्फूर्ति का उद्‌भव होता है।

अपाय-विचय और विपाक विचय दोनों की दिशाएँ लगभग एक जैसी हैं। अंतर केवल इतना-सा है कि अपाय विचय के चिंतन का क्षेत्र व्यापक है और विपाक विचय का उसकी अपेक्षा सीमित है-कर्मफल तक अवस्थित है। विपाक विचय के चिन्तन क्रम को स्पष्ट करते हुए आचार्य हेमचंद्र ने लिखा है – साधक अपने समक्ष एक ओर तीर्थंकरों के (अष्ट महाप्रतिहार्य आदि) श्रेष्ठतम साम्पतिक वैभव तथा दूसरी ओर प्राणियों के अत्यंत घोर कष्टमय नारकीय जीवन – ये दोनों एक दूसरे के अत्यंत विरुद्ध हैं। ध्यातव्य विषयों पर अपने चिंतन को कर्मविपाक के वैचित्र्य के साथ जोड़े – कर्मों का फल कितना विभिन्न-विचित्र है क्या से क्या हो जाता है। इस ध्यान द्वारा साधक को कर्म विमुक्ति की यात्रा पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है।

संस्थान विचय

इस लोक का न आदि है और न अंत। स्थिति-मूलतः सदैव ध्रुव या शाश्वत बने रहना। उत्पत्ति – नये-नये पर्यायों का उत्पन्न होना, व्यय – उनका मिटना, यों यह लोक 'उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक' है। लोक के संस्थान-अवस्थिति या आकृति का जिस ध्यान में चिंतन किया जाता है उसे संस्थान विचय कहा जाता है।[३]

इस ध्यान के फल का निरूपण करते हुए लिखा है-इस लोक में नाना प्रकार के द्रव्य हैं। उनमें अनंत पर्याय परिवर्तित-नवाभिनव रूप में परिणत होते जाते हैं, पुराने मिटते जाते हैं, नये उत्पन्न होते जाते हैं। उन पर मनन, एकाग्र चिंतन करने से मन जो निरन्तर उनसे जुड़ा रहता है। राग-द्वेष आदिवश आकुल नहीं होता। इस ओर से अनासक्त बनता जाता है। जागतिक पर्यायों पर, जो अनित्य हैं, ध्यान करने से जगत् के अनित्यत्व का भान

१. रागद्वेष कषायाद्यैर्जाय मानानू विचिन्तयेत्।
यत्रापायांस्तदपाय विचय ध्यानमुच्यते।।
ऐहिकामुष्मिकापाय-परिहार परायणः
ततः प्रति निवर्तेत् समन्तात् पापकर्मणः।।
– योगशास्त्र १०/१०.११

२. प्रतिक्षण समुद्‌भूतो यत्र कर्म फलोदयः
चिन्त्यते चित्ररूपः स विपाक विचयोदयः।।
या संपदाऽर्हतो या च, विपदा नारकात्मनः,
एकातपत्रता तत्र, पुण्यापुण्यस्य कर्मणः।।
– योगशास्त्र १०/१२,१३

३. अनाद्यनन्त लोकस्य, स्थित्युत्पत्ति व्ययात्मनः।
आकृतिं चिन्तयेयत्र संस्थान विचयण सतु।।
– योगशास्त्र १०-१४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होता है, योगोन्मुख साधक का आत्मरमण का भाव जागृत होता है।[1]

सारांश यह है कि धर्मध्यान वैराग्य/पर - पदार्थों की विरक्ति तथा आत्मसौख्य में अनुरक्ति-अनुराग तत्परता उजागर करता है। उससे जो आत्मसौख्य/आध्यात्मिक आनंद प्राप्त होता है, उसे केवल स्वयं के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है, जो इंद्रियगम्य नहीं है, आत्मगम्य है।[2]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि धर्मध्यान चित्त शुद्धि या चित्त-निरोध का प्रारंभिक अभ्यास है। शुक्ल ध्यान में वह अभ्यास परिपक्व हो जाता है।

शुक्ल ध्यान

मन सहज ही चंचल है, विषयों का आलंबन पाकर वह चंचलता बढ़ती जाती है। ध्यान का कार्य उस चंचल और भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटाकर किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।[3]

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, मन शांत और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्लध्यान के अंतिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध-पूर्ण संवर हो आता है, अर्थात् समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है।

आचार्य उमास्वाति ने शुक्लध्यान के चार भेद बतलाए हैं –

१. प्रथक्त्व-वितर्क सविचार २. एकत्ववितर्क अविचार ३. सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति तथा ४. व्युपरत क्रिया निवृत्ति।[4]

पृथक्त्व वितर्क सविचार

जैन परंपरा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलंबी विकल्प है। पूर्वधर – विशिष्ट ज्ञानी मुनि पूर्वश्रुत-विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलंबन लेकर ध्यान करता है, किंतु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था विशेष) पर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामों पर संचरण करता है – शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन-वाणी और देह में एक-दूसरे की प्रकृति पर संक्रमण करता है। अनेक अपेक्षाओं में चिंतन करता है।

ऐसा करना पृथक्त्व-वितर्क सविचार शुक्लध्यान है। शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से उसे ध्यान कहने में आपत्ति नहीं है।

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में सवितर्क समापत्ति (समाधि) का जो वर्णन किया है[5], वह पृथक्त्व-वितर्क सविचार शुक्ल ध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द-अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण-सम्मिलित समापत्ति समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा गया है।

---

१. नाना द्रव्य गतानन्त पर्याय परिवर्तनात्
सदा सक्तं मनो नैव, रागाद्याकुलतां व्रजेत्।। – योगशास्त्र १०.१५

२. अस्मिन्नितान्त वैराग्य व्यतिषंग तरंगित
जायते देहिनां सौख्यं स्वसंवेद्यमतीन्द्रियम्।। – योगशास्त्र १०.१७

३. "शुचं क्लमयतीति शुक्लम्।" – तत्त्वार्थ राजवार्तिक

४. पृथक्त्वैकत्व वितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति व्युपरत क्रियानिवृत्तीनि।- तत्त्वार्थ सूत्र ९.४१

५. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता – योगसूत्र १.४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन एवं पातंजल योग से संबद्ध इन तीनों विधाओं की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्यों का प्राकट्य संभाव्य है।

एकत्व-वितर्क अविचार

पूर्वधर-विशिष्ट ज्ञानी पूर्वश्रुत-विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण नहीं करता[1]। वैसा ध्यान एकत्व वितर्क अविचार की संज्ञा से अभिहित होता है। पहले में पृथक्त्व है अतः वह सविचार है। दूसरे में एकत्व है। इस अपेक्षा से उसकी अविचार संज्ञा है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रम है, दूसरे में असंक्रम। आचार्य हेमचंद्र ने इन्हें **पृथक्त्व श्रुत सविचार** तथा **एकत्व श्रुत अविचार** की संज्ञा से अभिहित किया है।[2]

महर्षि पतंजलि द्वारा वर्णित **निर्वितर्क-समापत्ति** एकत्व-वितर्क अविचार से तुलनीय है। पतंजलि लिखते हैं - जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का-ध्येय मात्र का निर्भास करानेवाली-ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष करानेवाली होकर, स्वयं स्वरूप शून्य की तरह बन जाती है, तब वैसी स्थिति निर्वितर्क-समापत्ति से संज्ञित होती है।[3]

महर्षि पतंजलि के अनुसार यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हो, वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि हो जाती है।

निर्विचार समाधि में अत्यंत वैशद्य-नैर्मल्य रहता है। अतः योगी उसमें अध्यात्म प्रसाद-आत्मुल्लास प्राप्त करता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतंभरा हो जाती है। ऋतम् का अर्थ सत्य, स्थिर या निश्चित है। वह प्रज्ञा या बुद्धि सत्य को ग्रहण करनेवाली होती है। उसमें संशय या भ्रम का लेश भी नहीं रहता। उस ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों का अभाव हो जाता है। अंततः ऋतंभरा प्रज्ञा से जनित संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यों समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि दशा प्राप्त होती है।

इस संबंध में जैन दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं उन्हीं के कारण उसका शुद्ध स्वरूप आवृत्त है। ज्यों ज्यों उन आवरणों का विलय होता जाता है, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जाती है और स्वाभाविक दशा उद्भासित होती जाती है।

आवरण के अपचय तथा नाश के जैन दर्शन में तीन क्रम हैं– क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा नष्ट या निर्मूल हो जाना क्षय, अवधि विशेष के लिए उपशांत-मिट जाना या शांत हो जाना उपशम एवं कर्म की कतिपय प्रकृतियों का सर्वथा क्षीण नष्ट हो जाना तथा कतिपय प्रकृतियों का अवधि विशेष के लिए उपशांत हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज है क्योंकि वहाँ कर्म बीज का सर्वथा उच्छेद या

१. तत्र शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। – योगसूत्र १.४२
२. ज्ञेयं नानात्वश्रुत विचारमैक्य श्रुताविचारं च।
सूक्ष्म क्रियमुत्सम क्रियमिति भेदेश्चतुर्धा तत्।। – योगशास्त्र ११.५
३. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूप शून्येवार्थ मात्र निर्मासा निर्वितर्का। – योगसूत्र १.४३
४. एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषय व्याख्याता – योगसूत्र १.४४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उन्मूलन नहीं होता, केवल उपशम होता है। कार्मिक आवरणों के संपूर्ण क्षय से जो समाधि अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है क्योंकि वहाँ कर्म बीज परिपूर्ण रूप में दग्ध/विनष्ट हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अवनत दशा में परिवर्तित हो सकती है, पर कर्मक्षय से प्राप्त उन्नत दशा में ऐसा नहीं होता।

अस्तु, जैन साधना और योग पर बहुत संक्षेप में उपर्युक्त विचार मैंने व्यक्त किये हैं। यह एक बड़ा महत्वपूर्ण विषय है। इस पर वर्षों से मैं अध्ययन-अनुसंधान में अभिरत हूँ। बहुत कुछ लिखना चाहता था, किंतु स्थान की अपनी सीमा है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है। जैन योग पर स्वतंत्र रूप से भी कतिपय आचार्यों ने ग्रंथों की रचना की। उनमें आचार्य हरिभद्रसूरि, आचार्य हेमचंद्र, आचार्य शुभचंद्र तथा उपाध्याय यशोविजय आदि मुख्य हैं।

जैन परंपरा में आचार्य हरिभद्र सूरि वे पहले मनीषि हैं जिन्होंने योग को एक स्वतंत्र विषय के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने संस्कृत में **योगदृष्टि समुच्चय, योगबिंदु** तथा प्राकृत में **योगशतक** और **योगविंशिका** नामक ग्रंथ लिखे। इन चारों ग्रंथों का मैंने हिंदी में अनुवाद – संपादन एवं विश्लेषण किया है। जो **"जैनयोग ग्रंथ चतुष्टय"** के नाम से मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित है। हिंदी में इन महान् ग्रंथों का यह पहला अनुवाद है।

आचार्य हरिभद्र ने इन ग्रंथों में अनेक प्रकार से जैनयोग का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया है। **योग दृष्टि समुच्चय में उन द्वारा निरुपित-आविष्कृत मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कांता, प्रभा एवं परा नामक आठ योगदृष्टियाँ योग के क्षेत्र में निःसंदेह उनका एक अभूतपूर्व मौलिक चिंतन है।**[१]

ये योगदृष्टियां अपने आप में एक स्वतंत्र शोध का विषय है।

आचार्य हेमचंद्र ने योगशास्त्र में **पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान के चार भेदों का बड़ा मार्मिक विवेचन किया है। पिंडस्थ ध्यान की उन्होंने पार्थिवी आग्रेयी, वायवी, वारुणी तथा तत्वभू नामक पाँच धारणाओं का वर्णन किया है, जहाँ पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आत्मस्वरूप के आधार पर ध्यान करने का बड़ा विलक्षण विश्लेषण है।**[२]

आचार्य शुभचंद्र ने पिण्डस्थ ध्यान की धारणाओं के अतिरिक्त शिवतत्व, गरुडतत्व और कामतत्व के रूप में ध्यान का जो मार्मिक निरूपण किया है, वह वास्तव में उनकी अनूठी सूझ है, मननीय है।

प्राचीन जैन आचार्यों ने योग पर जितना जो लिखा है, उस पर जितना जैसा अपेक्षित है, अध्ययन, अनुशीलन अनुसंधान नहीं हो सका। यह बड़े खेद का विषय है। यदि जैन विद्वान्, जैन तत्त्वानुरागी मनीषी इस दिशा में कार्य करते तो न जाने कितने महत्वपूर्ण योग विषयक उपादेय तत्त्व, तथ्य आविष्कृत होते।

यह भी एक विषाद का विषय है कि आज अन्यान्य क्षेत्रों की तरह योग का क्षेत्र भी एक अर्थ में व्यावसायिकता लेता जा रहा है। अमेरिका आदि में अनेक योग केंद्र चल रहे हैं। आसनादि का जो प्रशिक्षण दिया जाता है, वह सब अर्थ – पैसे के लिए है। वहाँ यह लगभग विस्मृत जैसा है कि आसन यम-नियम के बिना अधूरे हैं। प्राणायाम का प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के बिना क्या सार्थक्य

१. योगदृष्टि समुच्चय २१.१८६
२. योगशास्त्र ७.१०.२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है? उस दिशा में कौन जाए, क्यों जाए, क्यों सोचे? योग से तो पैसा मिलना चाहिए।

एक और कथ्य है - ऐसा भी हम अपने देश में देख रहे है, वित्त तो योग पर नहीं छाया है, किंतु लोकेषणा इतनी अधिक व्याप्त हो गई है कि जैन योग के प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों पर चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करने का किसीको अवकाश ही नहीं हैं। ध्यान और योग के प्रणेता अभिनव आविष्कर्ता की ख्याति एवं प्रशस्ति का आकर्षण इतना अधिक मन में घर कर गया है कि योग की अंतः समाधान, आत्मशांति और समाधिमूलक फलवत्ता गौण होती जा रही है। यह भी योग का एक प्रकार से व्यवसायीकरण है। कृपया योग को व्यवसाय न बनाएं यह तो चिन्तामणि रत्न है। इसका उपयोग उसके स्वरूप के अनुकूल ही होना चाहिए।

ये कुछ कटुक्तियाँ हैं, पर वस्तुतः स्थिति आज इससे कुछ भिन्न प्रतीत नहीं होती।

अंत में मैं यही कहूँगा कि योग एक ऐसा विषय है जिसकी उपयोगिता त्रिकालवर्तिनी है। आज के तनाव, अनैतिकता, अनाचरण, अव्यवस्था और असंतुलनपूर्ण जन-जीवन में योगाभ्यास और अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। अजगर की तरह निगलने को उद्यत इन समस्याओं से जूझने के लिए योग के यथार्थ स्वरूप का बोध, अभ्यास, तन्मूलक चिन्तन और व्यवहार सर्वथा अपरिहार्य है। कितना अच्छा हो, हमारे धर्मोपदेष्टा इस विषय को सर्वाधिक महत्व देते हुए योग की जीवनगत उपयोगिता को उजागर करें। ●●●

❑ सरस्वती पुत्र एवं भारतीय विद्या के समुन्नयन में समर्पित प्रो. डॉ. छगनलाल जी 'शास्त्री' निःसन्देह राष्ट्र के प्रबुद्ध मनीषी हैं। काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि एवं निम्बार्कभूषण से विभूषित डॉ. शास्त्री संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी आदि भाषाओं के आधिकारिक विद्वान् हैं। वैदिक, आर्हत् एवं सौगात आदि विभिन्न दर्शनों के ज्ञाता एवं मर्मज्ञ ! मद्रास विश्वविद्यालय में डिपार्टमेन्ट ऑफ जैनोलॉजी की स्थापना में आपश्री का अनन्य योगदान हैं। कई वर्षों तक इसी विभाग को कुशल प्राध्यापक के रूप में महती सेवाएं दीं। रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत जैनोलॉजी एण्ड अहिंसा, वैशाली में भारतीय तथा वैदेशिक छात्रों को शिक्षण और मार्गदर्शन दिया। अनेक कृतियाँ संपादित, अनूदित एवं व्याख्यात ! "आचार्य हेमचन्द्रः काव्यानुशासनञ्च - समीक्षात्मक-मनुशीलनम्" महत्वपूर्ण ग्रंथ इसी वर्ष प्रकाशित ! संप्रतिः लेखन - सम्पादन - अध्ययन - अध्यापन।

— सम्पादक

जिंदगी में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं वस्तुओं का कहीं प्राचुर्य तो कहीं अभाव या सीमित रूप होता है। ये जिन्दगी के साधन हैं। अधिक साधनों वाला बहुत ऊँचा है और थोड़े साधनों वाला नीचा है। अमीर गरीब, छोटा-बड़ा आदि सामाजिक व्यवस्था का या मानवीय विचार वाला व्यापार है और कुछ नहीं है। वस्तु, धन को विशेषण बना दिया आदमी के लिए। आदमी तो वही है, उसी माटी का बना है, वही जीवन जीने की प्रक्रिया है।

— सुमन वचनामृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org